जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

भारतीय धर्मों एवं दर्शनों का मुख्य प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना है। समस्त साधनाएँ मोक्ष के निमित्त ही की जाती हैं। मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, परमपद, शिवपद, परमात्मपद, सिद्धपद, परमधाम आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं। मोक्ष या निर्वाण के सम्बन्ध में साध्यगत समानता होते हुए भी भारतीय चिन्तकों में जो स्वरूपगत मतवैभिन्य देखा जाता है, उसका कारण मोक्षतत्त्व नहीं, अपितु हमारी भाषागत और ज्ञानगत सीमितता ही होती है। जिस प्रकार एक ही भवन के विविध कोणों से लिये गये चित्र भिन्न-भिन्न होकर भी उसी तथ्य को उजागर करते हैं, वैसे ही मोक्ष सम्बन्धी विभिन्न विवरण भी अपने वैविध्य के बावजूद उसी सत्य को उजागर करते हैं। सत्य तो यह है कि परमतत्त्व हमारी शब्द सीमा से परे है, वर्णनातीत है, अनिर्वचनीय है, अवाच्य है। जब भी उसे शब्दों की सीमा में बाँधने का कोई प्रयत्न होता है, असीम और अनन्त को भाषा के द्वारा वाच्य बनाने का कोई प्रयास होता है तब हमारी भाषा की सीमा के कारण समग्र सत्य तो कहीं बाहर ही छूट जाता है। अनुभूति को जब भी भाषा के सहारे अभिव्यक्ति दी जाती है तो वह मात्र सीमित या सापेक्ष ही नहीं, वरन एक प्रतिभास बनकर रह जाती है। इतना ही नहीं, वे शब्द चित्र भी उस अनुभूति को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी हम देखते हैं कि अनेक लोगों ने गुड़ के स्वाद की अनुभूति की होती है, किन्तु जब वे शब्दों के सहारे उसके यथार्थ स्वाद को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करते हैं तो उसमें वैविध्य होता है। चाहे कोई गुड़ के स्वाद पर पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध भी लिख दे, किन्तु यह सत्य समझ लेना है कि उसे पढ़कर भी कोई उस अनुभूति को पाने में समर्थ नहीं हो सकता।

मोक्ष या मुक्ति भी एक अनुभूति है। शब्दों के माध्यम से उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने का प्रयत्न ठीक वैसा ही होता है जैसे कोई नक्शे के माध्यम से हिमालय की ऊँचाई या गंगा की गहराई को समझाने का प्रयत्न करे। नक्शे के तथ्य को समझाने का सार्थक प्रयत्न तो कहा जा सकता है, किन्तु उन्हें सत्य समझ लेना भ्रान्ति को ही जन्म देता है। शब्द सत्य की ओर इशारा (संकेत) कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं, उसे कह नहीं सकते (लक्ष्यते न तु उच्चयते)। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पंचम अध्याय (१/५/६/१७१) में इसलिए कहा गया है कि "उस परमात्म पद का निर्वचन करने में शब्द समर्थ नहीं हैं, सारे स्वर वहाँ से लौट आते हैं, तर्क की भी वहाँ कोई गति नहीं है, मति (बुद्धि) उसे पकड़ पाने में असमर्थ है, उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् कोई भी शब्द उसे वाच्य बनाने में समर्थ नहीं है, ऐसी कोई उपमा भी नहीं है जिसके माध्यम से उसे बताया जा सकता है।" उसके स्वरूप के निर्वचन में वाणी की असमर्थता को स्वीकार करनी ही होती है, क्योंकि अनुभूति मात्र अनुभूति है उसे अभिव्यक्ति देना सम्भव नहीं है। इसलिए जब उसके वर्णन का प्रश्न आया तो प्राय: शास्त्रों ने निषेध मुख से इतना ही कहा कि मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है; अत: मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरू, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है (आचारांग १/५/६/१७१)। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "मोक्षदशा में न सुख है, न दुःख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न वहाँ इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, न आर्त और रौद्र विचार ही हैं। वहाँ तो शुभ और अशुभ विचारों का भी अभाव है (नियमसार १७८-१७९)।" मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है। वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रान्त है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन भी उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है। उपनिषदों में इसी लिये यह कहा गया है कि वह तर्क, बुद्धि ओर मन का विषय नहीं है (तैत्तिरीय २/९, मुण्डक ३/१/८), क्योंकि ये सभी विक़ल्पात्मक हैं जबकि वह तो निर्विकल्प है, निर्विकल्प को विकल्पों का विषय कैसे बनाया जा सकता है? भाषा भी अस्ति और नास्ति के विकल्पों से सीमित है अत: मोक्ष का कोई भी निर्वचन सम्भव नहीं है। निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या के सम्बन्ध में उदान (८/१०) में निम्न बुद्धवचन हैं- "लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं वे तुरन्त ही बुझ जाती हैं। कहाँ गईं कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता।" फिर भी इन निषेधमूलक विवरणों से यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझ लेना मूर्खता ही होगी कि मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण कोई भावात्मक तथ्य नहीं है। व्यक्ति में जो अनन्त और असीम को पाने की ललक है। विकल्पों और विचारों के संकुल इस संसार से निर्विचार और निर्विकल्प में जाने की जो अभीप्सा है, प्यास है वही मोक्ष या निर्वाण की सार्थकता है। मनुष्य में अपनी चैतसिक क्षुद्रताओं, वासनाओं और विकारों से ऊपर उठकर आत्मिक रूप से स्वस्थ होने की जो एक प्रेरणा है, विभाव से स्वभाव में आने की जो सतत प्रयत्नशीलता है- ये सभी इस तथ्य की सूचक हैं कि मोक्ष अभाव रूप न होकर एक भावात्मक अवस्था है। बीमारी का अभाव स्वास्थ्य की भावात्मक सत्ता को सिद्ध करता है। मोक्ष आत्मपूर्णता है, आत्म-साक्षात्कार है। सीमा को जानने में सीमापारी का अवबोध आवश्यक है। जब चेतना विकल्पों, विचारों, इच्छाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं के उस पार चली जाती है, जब चेतना मैं और मेरे के क्षुद्र घेरे को तोड़कर असीम और अनन्त में निमज्जन कर लेती है तो वह मोक्ष या निर्वाण को उपलब्ध हो जाती है, वह स्वयं असीम और अनन्त हो जाती है। मुक्ति या निर्वाण अन्य कुछ नहीं है, वह सीमाओं का, आवरणों का, ममता के घेरे का टूट जाना है। अतः मोक्ष या निर्वाण एक भावात्मक सत्ता भी है। यह सत्य है कि उसे वाच्य नहीं बनाया जा सकता किन्तु उसे अनुभूत तो किया ही जा सकता है, वह चाहे अभिलाप्य न हो लेकिन अनुभूति तो है ही। हमें यह भी ध्यान रखना है कि निर्वाण या मोक्ष कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है, जिसकी अनुभूति इस जीवन से परे किसी अन्य लोक और अन्य जीवन में सम्भव होती हो, उसकी अनुभूति तो इसी जीवन में और इसी लोक में करनी होती है।

वस्तुतः साधना पद्धतियों के रूपों में या धर्मों में वैविध्य हो सकता है, किन्तु उन सब में मोक्ष रूपी साध्यगत समरूपता भी है। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र की ओर गतिशील होती हैं उसी प्रकार सभी धर्म मोक्ष या परमात्म-दशा की ओर गतिशील हैं। जिस प्रकार बीमारियाँ भिन्न होती हैं और उनके कारण उनकी चिकित्सा विधि, औषधि और पथ्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनके परिणाम स्वरूप उपलब्ध स्वास्थ्य एक ही रूप होता है। जिस प्रकार बीमारियों में तरतमता होती है, विभिन्नताएँ होती हैं, उसी प्रकार चैतसिक विकृतियों में भी उनके राग, द्वेष, मोह और कषाय (क्लेश) रूप कारकों की अपेक्षा भिन्नता होती है। किन्तु साधना पद्धतियों में रही हुई भिन्नता, उनके साध्य की भिन्नता का आधार नहीं है, मोक्ष या निर्वाण तो एक रूप ही होता है। वह तो आत्मपूर्णता की स्थिति है, उसमें तरतमता या वैविध्य नही है। सभी मुक्त आत्माएँ समान हैं, उनमें कोई तरतमता नहीं है, छोटी-बड़ी नहीं हैं, ऊँच-नीच नहीं हैं, स्वामी-सेवक भाव नहीं हैं। वैविध्य तो संसार दशा में है, मुक्ति में नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतसिक विकृतियों के कारणगत और स्वरूपगत वैविध्य के कारण उनकी चिकित्सा रूप धर्म में वैविध्य हो सकता है किन्तु उस चिकित्सा के फलस्वरूप पुन: उपलब्ध स्वास्थ्य तो एक ही रूप होता है। उसी प्रकार धर्म या साधना पद्धतियों का वैविध्य साक्ष्य रूप मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण के वैविध्य का कारण नहीं है। अत: विविध परम्पराओं की मोक्ष की अवधारणा कहने भर को ही भिन्न-भिन्न होती है, उसमें स्वरूपगत भेद नहीं है। अत: जैन, बौद्ध, हिन्दू या सिख धर्मों के मोक्ष के विवरण में भेद प्रतीतिरूप भेद है अनुभूतिरूप भेद नहीं है। जैसे दस व्यक्ति गुड़ का स्वाद चखें - उनकी अनुभूति समान होती है, भेद मात्र भाषागत अभिव्यक्ति में होता है।

मोक्ष का अर्थ है - ज्ञेयावरण और क्लेशावरण कर्मों का नष्ट हो जाना, उन कर्मों का आवरण हट जाना। चेतना का विक्षोभों, विकारों, विचारों और विकल्पों से मुक्त हो जाना। वह ममत्व और कर्ता भाव से ऊपर उठकर वीतराग, वीततृष्ण और अनासक्त अवस्था की प्राप्ति हैं, इसे सभी धर्म और दर्शनों ने स्वीकार किया है। संक्षेप में कहें तो वह आत्मोपलब्धि है, स्व-स्वरूप में अवस्थिति है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जीना है।

मोक्ष कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है, जो पूर्व में अनुपलब्ध थी और बाद में उसे पाया गया हो। जिस प्रकार स्वास्थ्य कोई ऐसी बाह्य वस्तु नहीं है जिसे पाया जाता है, वह तो बीमारी या विकृति के हटने का नाम है, वैसे ही मोक्ष या निर्वाण भी वासना या विकारों का शान्त हो जाना है। वह अनुपलब्ध की उपलब्धि नहीं है, अपितु उपलब्ध की ही पुन: उपलब्धि है। स्वास्थ्य पाया नहीं जाता है, मात्र बिमारी या विकृति को हटाने पर उपलब्ध होता है। जिस प्रकार सूर्य सदा प्रकाशित है, प्रकाश की उपलब्धि के लिए मात्र बादलों के आवरण हटना जरूरी है। उसी प्रकार चेतना को विक्षोभित और विद्रूपित करनेवाले तत्त्वों या कर्मरूपी आवरण का हट जाना ही हमारी मुक्ति है। चेतना निर्मल और प्रशान्त रहे यही मुक्ति का अर्थ है। पारलौकिक जीवन तो मात्र उस परम विशुद्ध अवस्था का परिचायक है, किन्तु उस अवस्था की उपलब्धि तो इसी जीवन में करनी होती है।

Jain Education International · For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org